रमण महर्षि एवं रामकृष्ण परमहंस की आध्यात्मिक पाठशाला

डॉ. ओ.पी. टाक, प्रभारी, आजीवन शिक्षा विभाग, जयनारायण व्यास वि.वि., जोधपुर।

विश्व में भारत अध्यात्म विद्या की मुख्यपीठ के रूप में वन्दनीय रहा है। यहाँ शताब्दियों से परमार्थ-चिन्तन होता रहा है और अध्यात्म की परम्परा पुनर्नवा भी होती रही है। वस्तुत: जिसे अध्यात्म कहा जाता है वह शरीर का नहीं, आत्मा का विज्ञान है। जिस तरह विज्ञान खोजधर्मी और प्रयोगधर्मी है, वैसे ही अध्यात्म भी अन्वेषणधर्मी और आविष्कारधर्मी है। भारत जैसे बहुलतावादी देश में अध्यात्म से जुड़े इतने संत महापुरुष, इतने पंथ, इतने विचार और इतनी साधना-सरणियां हैं कि उन्हें गिनती में लेना ही कठिन है और आज भी इस क्षेत्र में नवप्रयोगों की संभावनाएं शेष नहीं रही हैं। आज भी उच्च कोटि के संत-मनीषी मनुष्य के शीघ्र एवं सुगम कल्याण के लिए चिंतित नजर आते हैं और वे नये-नये क्रांतिकारी उपायों की खोज में लगे रहना चाहते हैं। वर्तमान युग के संत स्वामी रामसुखदासजी तो अपने महाप्रयाण के कुछ माह पूर्व तक यह कहते रहे, कि '**अगर मेरा शरीर कुछ वर्ष और रह गया तो मैं भगवत्प्राप्ति का और भी सुगम उपाय बता दूंगा।**' उनका यह भी मानना था कि '**आत्मकल्याण का, आध्यात्मिक उन्नति का जैसा अवसर भारत में है वैसा अन्य किसी देश में नहीं। जैसे वैज्ञानिक नित्य नये भौतिक आविष्कार कर रहे हैं, ऐसे ही इस देश में हम नये-नये आध्यात्मिक आविष्कार कर सकते हैं और ऐसा होना संभव भी है, क्योंकि परमात्मा की प्राप्ति के कई उपाय अभी शेष हैं, प्रकट नहीं हुए हैं।**' रामसुखदासजी का यह कथन कब और कितने रूपों में फलित होगा, यह तो भविष्य बतायेगा, लेकिन इतना अवश्य है, कि उन्होंने अपनी निर्मल वाणी से पीड़ित मानवता को एक सम्बल और आशा तो प्रदान की ही है। धरती पर जन्म लेने वाला प्रत्येक शिशु अपनी आत्मोन्नति एवं आध्यात्मिक कल्याण का अधिकार ले कर आता है। चाहे मनुष्य पापी हो या पुण्यात्मा, चाहे सम्पन्न हो या निर्धन, स्त्री हो या पुरुष, शिक्षित हो या अशिक्षित सभी आत्ममंगलकामी होते हैं और सभी अपने कल्याण का साधन-पथ अर्जित करने की सामर्थ्य रखते हैं। संत-महात्मा इस पथ की खोज में मार्गदर्शक की भूमिका निभाते हैं।

श्री रमण महर्षि भारतीय संतपरम्परा की स्वर्णिम कड़ी हैं। अरुणाचल पर्वत की गोद में स्थापित स्कंदाश्रम एवं रमणाश्रम में निवास करते हुए उन्होंने वहाँ आने वाले जिज्ञासु भक्तों का आध्यात्मिक मार्गदर्शन किया और संकल्प लिया कि दर्शन देना, मौन द्वारा सम्पर्क स्थापित करना तथा भक्तों एवं जिज्ञासुओं के साथ वार्तालाप ही उनके जीवन का कार्य एवं लक्ष्य रहेगा। यह आकस्मिक नहीं था कि महर्षि की आध्यात्मिक सम्पदा को समझने के लिए पहले मैंने उनके उच्चस्तरीय बौद्धिक वार्तालाप एवं रचनाओं को चुना, लेकिन उन्हें पढ़ते हुए मैं बहुत आगे तक नहीं जा पाया। संभवत: इसका कारण विषय की अकादमिक बोझिलता हो, लेकिन मुझे आकर्षित किया महर्षि के सम्पर्क में आए लोगों के प्रबोधनकारी एवं प्रेरणादायी संस्मरणों एवं प्रश्नोत्तरों ने, जिनके माध्यम से महर्षि की आध्यात्मिक-सृष्टि का सम्पूर्ण वैभव उजागर हो गया। मुझे लगा कि आध्यात्मिकता बहुत सहज-सरल अभिव्यक्ति एवं सादगी भरे नीति-नियमों पर निर्भर करती है और यह न दैनन्दिन जीवन से अलग है और न मानवीयता से। महर्षि के भाव-सान्निध्य में रहते हुए अनेक अनमोल मोती हाथ लगे और आत्मनिष्ठा, ईश्वर, गुरु, आत्मा, प्रार्थना आदि अनेक विषयों पर उनके परिष्कृत एवं पावन दृष्टिकोण से परिचय हुआ।

महर्षि का आध्यात्मिक पथ मूलत: शास्त्रों से प्रेरित-पुष्ट न होकर स्वयं के अनुभवों पर आधारित था। किशोरावस्था में (जब वे महर्षि नहीं हुए थे और उनका नाम वेंकटरमण था) उन्हें एक रहस्यमय ढंग से आत्मसाक्षात्कार हुआ और वही उनके आध्यात्मिक जागरण का केन्द्रीय सूत्र सिद्ध हुआ। हुआ यूँ कि महर्षि को सोलह-सत्रह वर्ष की उम्र में एक दिन अचानक मृत्युभय ने जकड़ लिया। वैसे इस भय का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं था, क्योंकि उनका स्वास्थ्य पूर्णत: सामान्य था, लेकिन यह अनुभव जैसे कोई दैवीय विधान ही था। उन्हें लगा कि 'मैं' अब मरने वाला हूँ और वे इस पर विचार करने लगे। उन्होंने अपने आप से कहा-'क्योंकि अब जब मृत्यु आ ही गयी है, तो इसका क्या अर्थ है? वह क्या है, जो मर रहा है? यदि केवल यह शरीर ही मरता है, तो क्या इस शरीर की मृत्यु के साथ 'मैं' मर गया हूं? यह शरीर क्या 'मैं' हूँ?

इन प्रश्नों का उत्तर उन्हें आत्म-अन्वेषण की दिशा में ले गया और उन्होंने पाया कि मैं तो इस शरीर से परे आत्मा हूँ। इसका अर्थ यह हुआ कि 'मैं' मृत्युरहित आभा हूँ। इस अनुभव के बाद वेंकटरमण एक गहन चेतन समाधि में डूब कर आत्मा के मूल स्वरूप में विलीन हो गये।

इस अनुभव से उन्होंने इस सत्य का साक्षात्कार किया कि अस्तित्व का सार आत्मा है, शरीर आत्मा से भिन्न है और आत्मा को मृत्यु छू भी नहीं सकती। इस अद्‌भुत अनुभव ने वेंकटरमण को आन्तरिक प्रशान्ति एवं आध्यात्मिक शक्ति से विभूषित कर दिया। कालान्तर में उन्होंने अनन्य लोकश्रद्धा पायी और वे वेंकटरमण से महर्षि रमण बन गये। सात दशकों की लोकयात्रा के अन्तराल में उन्होंने अखण्ड आत्मनिष्ठ अवस्था में रहने का सौभाग्य पाया और स्थितप्रज्ञ का आदर्श प्राप्त किया।

महर्षि ने न कोई धर्म-सम्प्रदाय चलाया और न किसी विशिष्ट साधना-पद्धति का प्रतिपादन किया। उन्होंने अपने अनुभूत एवं आत्मसात् किये हुए सत्य को ही उदार हृदय से लोक में वितरित किया।

महर्षि की स्थापना है कि **जहां मनोविज्ञान समाप्त होता है, वहाँ दर्शनशास्त्र प्रारम्भ होता है और जहाँ दर्शनशास्त्र समाप्त होता है वहाँ अध्यात्म प्रारम्भ होता है। स्वयं के स्वरूप-ज्ञान से बढ़ कर कोई अध्यात्म नहीं है और स्वयं के स्वरूप-अज्ञान से बढ़ कर कोई आत्मघात नहीं है।** महर्षि के अनुसार दिव्यता की धरोहर सनातन है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में सबल एवं दिव्य है। मनुष्य की सबसे बड़ी भूल यह है कि वह अपने को देह के अधीन या कमजोर प्रकृति का समझता है। वस्तुत: दूषित या कमजोर तो उसकी आदतें, विचार और इच्छाएं हैं जिन्हें सुधारा जा सकता है और अभ्यास करें तो आत्मसंयम एवं आत्मबल भी साधा जा सकता है तथा आत्मज्ञान भी पाया जा सकता है। इसके लिए महर्षि एक छोटे से प्रश्न पर विचार करने के लिए हमें आमंत्रित करते हैं। वह प्रश्न है – **'मैं' कौन हूँ?** यह प्रश्न उनके अध्यात्म का प्रस्थान भी है और उसका गन्तव्य भी है। यही वह आधारभूत प्रश्न है, जिस पर निरंतर ध्यान लगाने और विचार करने से अध्यात्म का पथ खुल जाता है।

महर्षि ने एक वैज्ञानिक की तरह सत्य को पाने की तर्कसम्मत पद्धति अपनायी। उन्होंने न दार्शनिक की तरह बातें कीं और न पंडित की तरह सिद्धान्त समझाये। उनके अनुसार जब हम 'मैं' कौन हूँ? इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे तो हमें आत्म-विश्लेषण का अवसर मिलेगा और हमारे भीतर क्या है, इसे हम खोज पायेंगे। महर्षि के अनुसार हमें देखना चाहिए कि हमारे भीतर ऐसा क्या है, जो शरीर के समाप्त होने पर भी समाप्त नहीं होता। जब हम यह विचार करते हैं, तो अपनी शुद्धता और सच्चाई को पाते हैं। इससे हमारे भीतर आत्मबोध जाग्रत हो जाता है और हम देहभाव से मुक्त होते चले जाते हैं। इस सत्य को जाने और पाये बिना हम न अपने साथ न्याय कर पाते हैं और न दूसरों के साथ अच्छा कर पाते हैं। महर्षि कहते हैं कि जब मैं 'मैं कौन हूँ?' इस प्रश्न पर विचार करता हूँ तो पाता हूँ कि मैं न तो शरीररूपी पोटली हूँ और न ही मस्तिष्क रूपी ढाके की मलमल हूँ और न ही अहंकार का मकड़जाल हूँ। मैं इन सबसे परे और इन सबसे महान् एवं इन सबसे स्वतन्त्र 'आत्मा' हूँ। जब हम शरीर, मन और बुद्धि से परे चले जाते हैं तो हमें अपनी मूल पहचान मिल जाती है , हमारी चेतना का केन्द्र बदल जाता है और हम जान जाते हैं कि जिसे आन्तरिक अस्तित्व कहते हैं, वह ब्रह्माण्ड का सबसे उच्चतम अस्तित्व है-मैं, मेरे भीतर मेरी अन्तरात्मा और अन्तरात्मा के भीतर मेरा रचयिता अर्थात् एक में तीन। इसका बोध होते ही हम आन्तरिक संसार की ओर मुड़ जाते हैं और तब बाहरी संसार त्यागने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह स्वत: ही छूटता चला जाता है और इसके लिए हमें न कर्मकांड की आवश्यकता पड़ती है, न मिथ्या विश्वासों की और न किसी धर्म और उससे जुड़े रीति-रिवाजों की। महर्षि के अनुसार 'मैं' कौन हूं? यह जपने का नहीं विचारने का मन्त्र है। यह वह मन्त्र है जो हमें

आत्मनिष्ठ अवस्था में पहुँचाने की क्षमता रखता है। वस्तुत: यह आत्मसिद्धि का मन्त्र है। इसमें यूनानी सुभाषित 'अपने को पहचानो' तथा उपनिषद् के कथन 'आत्मानम् विद्धि' की अनुगूंज है। यह साधारण प्रश्न नहीं है बल्कि महत्तर प्रश्न है, जिसे निरन्तर अपने आप से पूछने का उद्देश्य मन को बाहर भटकने से रोक कर अंत:करण में अवगाहन करना है। मन जो मात्र विचारों का पुलिन्दा है, वह सच्चाई और दृढ़ता से यह मनन करने पर कि 'मैं' कौन हूँ? अंत में समाप्त हो जाएगा। इसमें समय लग सकता है लेकिन परिणाम निश्चित है। महर्षि के अनुसार **आत्मविचार में गहरे और गहरे उतरने के लिए घोर अभ्यास और दृढ़ निश्चय अनिवार्य है।** आत्मविचार आध्यात्मिक निश्चेतना को दूर करने एवं जीवन को सार्थक बनाने का राजमार्ग है। इसके माध्यम से हम परमात्मा के समीप आ जाते हैं। इसका गहन अभ्यास करने से चेतना जाग्रत हो जाती है और विचारों की पुनरावृत्ति समाप्त हो जाती है और हम आत्मतत्व को जान लेते हैं। महर्षि की दृष्टि में **आत्मा को जानना ही ईश्वर को जानना है। ईश्वर आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।**

आत्म-अन्वेषण केवल चिन्तन की तकनीक नहीं है, यह जीवन की तकनीक है, इसलिए यह दैनिक क्रिया है। महर्षि से जब पूछा गया कि इस तकनीक का प्रयोग सदैव करना चाहिए या चिन्तन के विशिष्ट समय में, तो महर्षि ने उत्तर दिया-'हमेशा'। जब किसी ने महर्षि से पूछा कि आत्माअन्वेषण के अनन्तर 'मैं' वह हूँ? इस सूत्र का उपयोग किया जा सकता है तो महर्षि ने स्पष्टत: निषेध किया। महर्षि के प्रसिद्ध भक्त आर्थर आसबोर्न के अनुसार 'मैं' कौन हूँ? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं हो सकता। यह तो 'मैं' के विचार का विनाश करता है, जो कि सभी अन्य विचारों का जनक है और उस शांति में प्रवेश कराता है, जहाँ कोई विचार नहीं होता।

आत्म-अन्वेषण में सबसे बड़ी बाधा है, मन। मानव मन वायु से भी अधिक द्रुतगामी है। हम चाहे गृहस्थ बन कर संसार में रहें या संन्यासी बन कर वन में रहें, मन निरन्तर हमारा पीछा करता है। महर्षि का कहना है कि मानव मन बन्दर के समान अस्थिर, अनियन्त्रित और चंचल है, उसे शान्त करने के लिए, उसे कोई उपयोगी काम देना आवश्यक है और जब हम मन को 'मैं' कौन हूँ? इस प्रश्न पर एकाग्र कर देंगे तो उसे विचार एवं क्रियाओं के लिए अवकाश ही नहीं मिल पायेगा। अंतर्मुखी मन में विचारचक्र धीमा पड़ जायेगा और अंत:स्फुरण जाग्रत होगा। महर्षि के अनुसार यदि हम पाशविक वृत्तियों से ऊपर उठना चाहते हैं, तो इसका भी एकमात्र उपाय यही है कि हम मन और इन्द्रियों से अधिक बलशाली शक्ति को जाग्रत करें, उसका पोषण करें और शरीर को उसकी सीमाओं से दूर ले जाएँ। महर्षि कहते हैं कि **इच्छाएँ जो मन का आहार हैं, उनको छोड़ देने से उपवास भी सध जाता है, क्योंकि जो मन को निराहार रख सकता है, उसे तन को निराहार रखने की आवश्यकता नहीं रह जाती।**

महर्षि के अनुसार आत्म-अन्वेषण में संलग्न जिज्ञासु साधक के लिए सात्त्विक भोजन एवं सत्संग निश्चित रूप से सहायक सिद्ध हो सकते हैं, लेकिन ध्यान, आसन एवं स्वाध्याय की अपनी सीमा है। सात्त्विक भोजन औषधि का कार्य करता है, जबकि सत्संग की शक्ति अत्यन्त प्रबल किन्तु अदृश्य है। महर्षि मानते हैं कि ध्यान हम चाहे खुली आँख से करें या बन्द आँख से, कोई अन्तर नहीं पड़ता। आवश्यकता मात्र यह है कि हम अपने पर्याय रूप आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करें, जो हमारे भीतर है। महर्षि की दृष्टि में आत्मा में स्थिर रहने से बढ़ कर कोई सच्चा आसन नहीं है। आसन-विशेष में शरीर को स्थिर रखने के नियम तो मन को विचलित भी कर सकते हैं, लेकिन आत्म-आसन में आरूढ़ रहने पर किसी क्षति की संभावना नहीं है। महर्षि का यह भी कहना था, कि **स्वाध्याय में रुचि रखने वालों को सर्वप्रथम अपनी आत्मा की पुस्तक पढ़नी चाहिए, क्योंकि वही सबसे अच्छी और सच्ची पुस्तक है।** आत्म-पारायण के बाद हम जो चाहें पढ़ सकते हैं, उसका गहन प्रभाव हम पर नहीं पड़ सकता।

महर्षि ने आध्यात्मिक सम्पदा वितरित करते हुए व्यावहारिक दृष्टि का प्रतिपादन किया। उन्होंने सारवान् और तुच्छ में, महत्त्वपूर्ण और महत्त्वहीन में तथा उपयोगी और अनुपयोगी में भेद करना सिखाया। जब कोई उनसे पूछता, कि रावण के वास्तव में दस मुख थे या नहीं अथवा कलियुग कब समाप्त होगा, तो महर्षि कहते थे कि इन प्रश्नों के उत्तर जानकर हमें क्या मिलेगा? हमारे लिए अच्छा यह है कि हम व्यर्थ और निरर्थक बातों में समय नष्ट करने के स्थान पर उपयोगी और सार्थक बातों में अपने लक्ष्य और ऊर्जा का निवेश करें। उन्होंने भक्तों को सचेत किया कि वे चमत्कारी सिद्धियों के चक्कर में न पड़ें क्योंकि ये आध्यात्मिक पथ की बाधाएँ हैं।

महर्षि प्राय: 'देविकालोत्तरम्' ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए कहते थे, कि 'कोई व्यक्ति चमत्कारी सिद्धियों को (भले ही वे उसे प्रत्यक्षत: प्रदान की जाएँ) स्वीकार न करे। वे तो उन रस्सियों के समान हैं जिनसे पशुओं को बाँधा जाता है और देर-सवेर वे व्यक्ति को अध:पतन की ओर ले जाती हैं। यह मुक्ति का मार्ग नहीं है।' महर्षि अध्यात्म-चर्चा करते हुए प्राय: सिक्के का वह पहलू उद्घाटित करते थे जो साधारण जनों से छूट जाता था। गुरुकृपा के सम्बन्ध में भी उन्होंने शिष्य की स्थिति को अधिक महत्त्वपूर्ण माना। एक बार आश्रम में आए एक व्यक्ति ने अपने मित्र का परिचय देते हुए कहा, कि इन्होंने गलत व्यक्ति को गुरु बना लिया है। अब मैं उन्हें यह दिखाने लाया हूँ कि सद्गुरु कैसा होता है? महर्षि ने उनकी बात सुन कर कठोरता से कहा-'इनके लिए कैसा गुरु योग्य है, यह बताने वाले तुम कौन होते हो? तुम्हारे पास कौन सी शक्ति है, वस्तुत: जिससे तुम जान पाओ कि कोई व्यक्ति वास्तव में कैसा है? वस्तुत: गुरु इतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना कि शिष्य। यदि कोई परमश्रद्धा से भक्ति करे तो पत्थर भी परमेश्वर बन जाता है।' गुरुकृपा के बारे में उन्होंने एक अन्य अवसर पर कहा-'यदि शिष्य परिपक्व अवस्था में हो तो गुरु की दृष्टिमात्र से अज्ञान दूर हो सकता है। गुरु की कृपा का प्रवाह व्यक्ति के उत्कर्ष

के अनुसार होता है। यदि पात्र छोटा हो तो कृपा की प्राप्ति भी कम होगी। यदि पात्र बड़ा हो तो कृपा भी उसी अनुपात में अधिक होगी।'

महर्षि ने आश्रम में आने वाले भक्तों और दर्शनार्थियों को सदैव ईश्वर में आस्था का संदेश दिया। वे कहते थे '**अपनी सारी चिन्ताएँ ईश्वर पर डाल दो, अपने सारे भार उसके चरणों में रख दो। सारे संसार का भार परमेश्वर ही वहन करता है। यदि तुम अपना भार स्वयं उठाते हो, तो यह वैसा ही है जैसे रेल में बैठ कर तुम अपना बक्सा अपनी गोद में रख लो और रेल का बोझ कम करने के लिए उसका भार तुम स्वयं ढोओ।**' महर्षि ने लोगों को भक्ति का अर्थ भी बतलाया। उनकी दृष्टि में अभाव-निवृत्ति के लिए प्रार्थना करना भक्ति नहीं है, भक्ति तो ईश्वर के प्रति संपूर्ण आत्म-समर्पण है। वे प्राय: कहते थे कि ईश्वर से कभी कुछ नहीं माँगना चाहिए, क्योंकि हम नहीं जानते कि जो वस्तु हम माँग रहे हैं उससे हमारा भला होगा कि नहीं और वह वस्तु हमारे पास कब तक बनी रहेगी या नहीं रहेगी। इसलिए हमें न ईश्वर को उसका कर्तव्य याद दिलाना है और न उससे कुछ माँगना है। हमें अपनी सारी चिन्ताएँ उस पर छोड़ देनी हैं। यही समर्पण है और यही भक्ति।

महर्षि के उपदेश का सारांश है '**हम शरीर नहीं हैं।**' अन्तिम दिनों में जब महर्षि ने भक्तों को अपने गिरते स्वास्थ्य के बारे में चिन्तित देखा, तो उन्हें सांत्वना देते हुए कहा-'क्या भोजन के बाद कोई झूठी पत्तल को संभाल कर रखता है?' शरीर की तो प्रकृति है व्याधि, जराग्रस्त होना और अन्त में मृत्यु को प्राप्त होना। शरीर तो कच्ची धातु है। पक्की धातु है अनश्वर-अमर आत्मा। शरीर की पत्तल को कितना ही सँभालो, उसका नष्ट होना तो तय है। आत्मा ही सबसे मजबूत और मूल्यवान् है और वही सनातन है।

महर्षि रमण की भाव-संगति में रहते हुए प्राय: जिस महापुरुष का सबसे ज्यादा स्मरण आता है वे हैं रामकृष्ण परमहंस। दोनों सन्तों के व्यक्तित्व, विचार-आचार और कृतित्व में अद्भुत समानताएँ हैं। उनमें सबसे विलक्षण साम्य तो यह है कि दोनों मानते हैं, कि आध्यात्मिक अनुभव एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक उसी प्रकार प्रेषित किये जा सकते हैं, जैसे भौतिक पदार्थ एक व्यक्ति के हाथ से दूसरे के हाथ में दिये जाते हैं। महर्षि मानते थे कि आत्म-तत्त्व को जानने से परमतत्त्व को जानने का मार्ग खुल जाता है इसलिए वे कहते थे, कि पहले यह जानो कि 'मैं कौन हूँ?' रामकृष्ण भी कहते थे कि 'मैं' के विसर्जन पर ही मुक्ति का द्वार खुलता है। व्यक्ति में क्षुद्र अहं भाव जितना कम होता है, ईश्वर की अभिव्यक्ति उसमें उतनी ही अधिक होती है। वे कहते थे कि 'मैं' दो तरह का होता है। एक 'पक्का मैं' और दूसरा 'कच्चा मैं'। जो कुछ मैं देखना, सुनना या महसूस करता हूँ उसमें कुछ भी मेरा नहीं है। यहाँ तक कि यह शरीर भी मेरा नहीं है। मैं नित्यमुक्त ज्ञानस्वरूप हूँ-यह 'पक्का मैं' है। जबकि यह मेरा मकान है, यह मेरा लड़का है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरा शरीर है – यह 'कच्चा मैं' है। इन दोनों 'मैं' को जान

लेने का अर्थ है 'कच्चे मैं' की क्षुद्रता और 'पक्के मैं' की उदात्तता को जान लेना। इनमें भेदज्ञान करने से ही परमार्थ पथ का मार्ग राह खुलता है। रमण और रामकृष्ण देह से भले ही भिन्न थे, लेकिन आत्मा से मानो एक थे। दोनों ने यही प्रतिपादित किया कि अध्यात्म कोरा ज्ञान नहीं, साकार जीवन है।

रामकृष्ण जिन्हें स्वामी विवेकानन्द ने सर्वदेव-देवीस्वरूप, वेदमूर्ति और अवतारवरिष्ठ कहा था, सम्पूर्ण विश्व की अध्यात्म-परम्परा में सबसे अप्रतिम एवं अपूर्व थे। स्वामीजी के अनुसार उनका चरित्र हमारे कल्पित ईश्वर की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च था। उनका कहना था कि हमारी ईश्वरविषयक उच्च से उच्च धारणा से भी रामकृष्ण का चरित्र कई गुना उच्चतर और महान् है। उनके दया, प्रेम और पवित्रता से भरे ऐसे प्रत्यक्ष कार्य हैं जिनकी हम कल्पना तक नहीं कर सकते। उनके चरणों में गिर कर ईश्वररूप में उनकी अर्चना करने के अतिरिक्त हम क्या कर सकते हैं? जीवन का जो आदर्श, जो दृष्टान्त उन्होंने हमारे सामने रखा, ईश्वरत्व की उससे उच्च धारणा करना संभव नहीं है। मनुष्यों में एक वे ही थे जिन्हें 'सत् चित् आनन्द' के अखंड महासागर में एक चुल्लूभर जल पीने का सौभाग्य मिला। अधिकांश सन्त तो तट पर लहरों का गर्जन सुन कर ही जीवन समाप्त कर देते हैं। बहुत कम लोग उसका साक्षात्कार करते हैं उससे भी कम उसका रसास्वादन करते हैं।' रामकृष्ण ने परमानन्द के सागर का जी भर रसपान किया और मानवजाति के कल्याण हेतु उसका उदारतापूर्वक वितरण किया। रामकृष्ण का पूर्वार्द्ध धर्मोपार्जन में लगा और उत्तरार्ध उसके वितरण में।

पहले लम्बे समय तक धर्म, अध्यात्म और ईश्वर शास्त्रों की शोभा थे और उन पर साधु-सन्तों और तपस्वियों का अधिकार माना जाता था, लेकिन रामकृष्ण ने इन्हें आम आदमी के लिए सुलभ और सहज प्राप्य बना दिया। उनके लिए सम्पूर्ण विश्व अध्यात्म की राजधानी था और मानव मात्र उस राजधानी का निवासी एवं नागरिक। रामकृष्ण के लिए धर्म, ईश्वर, अध्यात्म सभी मानवीयता के पर्याय थे। उनके अनुसार संसार का प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह पापात्मा हो या पुण्यात्मा, चाहे वह किसी भी जाति, वर्ण, धर्म, लिंग आदि का हो, अपने जीवन में पूर्णावस्था को प्राप्त कर सकता है। इसी उदार विशाल दृष्टि के कारण रामकृष्ण ने सम्पूर्ण विश्व में 'नवीन आध्यात्मिक शक्ति का विस्तार करने वाले महाशक्तिशाली प्रकाश' के रूप में श्रद्धा पायी। उन्होंने विश्व मानव के हितार्थ आध्यात्मिक आदर्श को जी कर दिखाया। उन्होंने अपने आचरण एवं उपदेश से जो कुछ सिखाया वह किसी देश, पन्थ या जाति विशेष के लिए नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के लिए था। विश्व-समाज के लिए उनका मार्मिक संदेश और हार्दिक आह्वान है 'मतवादों, आचारों, पन्थों, गिरिजाघरों और मन्दिरों की ही चिन्ता मत करो। प्रत्येक मनुष्य के भीतर अस्तित्व की सारवस्तु अर्थात् आध्यात्मिकता विद्यमान है, उसकी तुलना में ये सब तुच्छ हैं। मनुष्य के अन्दर आध्यात्मिकता का भाव जितना अधिक अभिव्यक्त होता है, वह उतना ही जगत्कल्याण तथा आत्मकल्याण के लिए सामर्थ्यवान् होता है। प्रथमत: इसी अध्यात्म और धर्मधन का

उपार्जन करो। किसी के भीतर दोष मत ढूँढो, क्योंकि सभी मत और सभी पन्थ अच्छे हैं। अपने जीवन द्वारा यह दिखा दो कि धर्म का अर्थ न तो शब्द होता है, न नाम और न सम्प्रदाय वरन् इसका अर्थ होता है आध्यात्मिक अनुभूति।' रामकृष्ण ने अपने इस कथन के एक-एक शब्द को और उसके एक-एक भाव को जीया। उन्होंने जो कहा उसे अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखाया। उन्होंने अपने अनुयायी भक्तों से कहा था – **मैं साँचा छोड़े जाता हूँ, तुम लोग उसी में अपना जीवन गढ़ लेना। मैंने सोलह आना किया, तुम एक आना ही कर लेना।** रामकृष्ण के सभी शिष्य चाहे वे गृहस्थ हों या संन्यासी, पुरुष हों या स्त्री, उन्होंने अपने जीवन में गुरुप्रदत्त अध्यात्म को ही साकार-सजीव किया। रामकृष्ण ने अपने अध्यात्म से नास्तिक को आस्तिक बनाया, धर्मपिपासु को धर्मदान दिया। जिज्ञासु को ज्ञानदान किया, पीड़ितों को प्रेम दिया और हृदय से उनकी सेवा सहायता की। रामकृष्ण का अध्यात्म शुष्क तपस्या नहीं, वह मानव को सतत उन्नत ऊर्ध्वगामी बनाने की साधना है। उनका अध्यात्म आदमी को माँजता है, सुधारता है, नीतिपरायण और विनम्र बनाता है। लघुता से मुक्त कर विराट् का स्पर्श देता है और उसे सुख व आनन्द में निमग्न रखता है।

प्रारम्भ से ही रामकृष्ण को पुस्तकीय विद्या से गहन वितृष्णा थी। उनके अनुसार कोरा पाण्डित्य हमें कुछ नहीं दे सकता। पण्डित को बहुत सारे शास्त्र, अनेकों श्लोक मुखाग्र हो सकते हैं, लेकिन उन्हें रटने-दुहराने से क्या लाभ? वाणी के पीछे यदि आचरण व चरित्र का बल नहीं है तो सब व्यर्थ है। रामकृष्ण के अनुसार शास्त्रों में निहित सत्य की प्रत्यक्ष उपलब्धि होनी चाहिए। जगज्जननी के ज्ञान की एक सूक्ष्म किरण के सामने सारा पाण्डित्य फीका है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर सारे शास्त्र घासफूस के समान जान पड़ते हैं। जिन धार्मिक-आध्यात्मिक तत्त्वों को पण्डित गहन-गूढ़ भाषा-शैली में समझाते थे, उन्हें रामकृष्ण ने घरेलू ग्राम्य भाषा-शैली में सबके सामने रखा। रामकृष्ण जो बोलते और कहते थे वही शास्त्र था और शास्त्रों के उपदेश से भी ज्यादा सटीक और रोचक था। उन्होंने अपने आचार-विचार से धर्म, ईश्वर एवं अध्यात्म को सभी के लिए सुलभ एवं काम्य बना दिया।

रामकृष्ण के अनुसार संसार में किसी ली-दी जाने वाली वस्तु की अपेक्षा धर्म अधिक आसानी से लिया-दिया जा सकता है। धर्म न सम्प्रदाय है न मतवाद। धर्म को किसी संस्था विशेष में सीमित या बद्ध भी नहीं किया जा सकता। धर्म मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर बना देने या पूजा कर लेने का नाम नहीं है। धर्म तो आत्मा के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है और इसे आत्मसाक्षात्कार में ही पाया जा सकता है। रामकृष्ण के अनुसार धर्मों में विरोध या संघर्ष के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। सभी धर्म सत्य हैं और सभी धर्म अच्छे हैं। सभी धर्मों में एक ही आध्यात्मिक प्रकाश है। सभी धर्मों का ध्येय भी एक है और सभी धर्म एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं। सभी धर्मों का मूल भाव भी एक है और वह है-'मैं कुछ नहीं तू ही सब कुछ है।' रामकृष्ण ने सनातन धर्म के अतिरिक्त मुस्लिम एवं ईसाई धर्म की भी साधना की और

धर्म के सार्वदेशिक, सार्वकालिक एवं उदात्त स्वरूप को अर्जित किया और बताया कि दूसरों की धर्मभावना का हृदय से सम्मान करने पर ही मनुष्य में यथार्थ आध्यात्मिकता का उदय होता है।

रामकृष्ण का उपदेश है–पहले ईश्वर फिर जीव एवं जगत्। अर्थात् उस 'एक' ईश्वर को जानो, उसे जानने से तुम सभी कुछ जान जाओगे। अन्य पदार्थों की अपेक्षा ईश्वर ही हमारे सबसे निकट है लेकिन अहंरूपी आचरण के कारण हम उसके दर्शन नहीं कर पाते हैं। रामकृष्ण के अनुसार ईश्वर को जानने के लिए दुर्गम स्थान या गुरुगृह जाने की आवश्यकता नहीं है। जो जहाँ है, जिस रूप में पैदा हुआ है, वहीं अपने प्रयास से ईश्वर–दर्शन प्राप्त कर सकता है। वे कहते हैं–'**ईश्वर तो सबका चंदा–मामा है। जो उन्हें चाहता है, वह पाता है।**' उनकी दृष्टि में ईश्वर अनुभूति का विषय है। उसे पाने के लिए तीव्र आन्तरिक व्याकुलता एवं आतुरता चाहिए। जब मनुष्य को ईश्वर के बिना जीवन असह्य लगता है, तब उसे ईश्वर दर्शन देते हैं। ईश्वरप्राप्ति पर सभी का समान अधिकार है। उन्होंने हर व्यक्ति को उसके स्थान, परिस्थिति, रुचि एवं रुझान के आधार पर ईश्वरोन्मुख किया। रामकृष्ण के आविर्भाव के समय लोग धर्म एवं ईश्वर के नाम पर बाह्याचारों को ही सर्वस्व मान रहे थे और उसके भार से दबे जा रहे थे। रामकृष्ण ने लोगों को बाह्याचारों के सम्बन्ध में शिथिल किया और समझाया कि ईश्वरप्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति के अनुकूल साधन चुनना चाहिए। लक्ष्य को पाने के लिए बाह्याचार महत्वपूर्ण नहीं है। यदि उनका पालन होता है तो ठीक है अन्यथा उनकी ओर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। उनका आध्यात्मिक शक्तिसंचार तो अद्भुत होता ही था। वे साधक की पात्रता, योग्यता एवं अधिकार के अनुरूप उसके वक्ष, जिह्वा, मस्तक या शरीर के किसी अंग का स्पर्श मात्र करके ही उसमें भगवद्भाव जाग्रत कर देते थे। लेकिन सामान्य जनों के लिए उन्होंने भगवत्स्मरण एवं नारदीय भक्ति का सुगम मार्ग ही बताया। उनके अनुसार कलियुग में भगवान का नाम–गुणगान ही पर्याप्त है और यही ध्यान, पूजा और यज्ञ का फल देगा।

रामकृष्ण के अनुसार अध्यात्ममार्ग के पथिक को शुद्ध एवं निष्कपट होना चाहिए। इस क्षेत्र में प्रगति करने के लिए अहंकार, कुटिलता व पाखण्ड अस्पृश्य हैं। वे कहते थे सत्य बोलना कलियुग की तपस्या है। सांसारिक कर्म करते हुए मनुष्य को सत्यनिष्ठ होना चाहिए। जो मनुष्य शरीर, मन और वाणी से सत्य को पकड़े रहता है वह सत्यस्वरूप ईश्वर को पा लेता है। रामकृष्ण के अनुसार शुद्ध मन और शुद्ध आत्मा एक ही है। सांसारिकता का भाव नष्ट होते ही मन शुद्ध एवं पवित्र हो जाता है। पवित्र मन वह होता है, जो पूरी तरह से आत्मा की एकता में विश्वास करके सर्वभूतों में एक ही आत्मा को देखता है और तदनुरूप आचरण करता है। रामकृष्ण मानवमन की कमजोरी जानते थे। वे यह भी जानते थे कि मन को संसार से ऊपर रख पाना और कामनाओं के जाल से बचा पाना दोनों कठिन हैं लेकिन उनका यह भी मानना था कि विवेक–विचार से इस कठिनाई का हल ढूँढा जा सकता है। संसार के सारे भोग अनित्य हैं

और एकमात्र ईश्वर ही सत्य है, नित्य है। जब यह बोध जाग्रत होता है, तो यथार्थ वैराग्य होने लगता है। रामकृष्ण के अनुसार भावों के क्षेत्र में चोरी-धोखेबाजी नहीं चलती। जो सरल विश्वास एवं निष्कपट भाव से प्रभु के चरणों में सर्वस्व समर्पित कर देता है, उसे ही ईश्वरप्राप्ति होती है। रामकृष्ण के अनुसार साधक को चमत्कार एवं सिद्धियों के चक्कर में न पड़कर सात्त्विक भोजन, ईश-स्मरण व साधु-संग के साथ साधना व संयम का सतत अभ्यास करना चाहिए। ईश्वर-प्राप्ति का यही मार्ग है।

रामकृष्ण ने मनुष्यों को ईश्वर का प्रतिरूप माना। उन्होंने नारायण भाव से नर-पूजा का विधान बताया। दु:खी मानव दया का नहीं, सेवा का पात्र है और यही ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ उपासना है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार मेरे गुरु रामकृष्ण को जगत् में जो दिखा, वह अच्छा ही दिखा। उनके मुँह से किसी के लिए दुर्वचन नहीं निकले। उन्होंने किसी में दोष नहीं ढूँढा। उनके मन में कभी बुरे विचार नहीं आये। उनकी आँखें कभी बुरी चीज नहीं देख सकती थीं। यह महती पवित्रता और महान् त्याग उनके आध्यात्मिक जीवन का गूढ़ रहस्य है।

आज रामकृष्ण परमहंस और रमण महर्षि के महाप्रस्थान को इतने वर्ष हो गये, लेकिन आज भी वे लोकमन और लोकश्रद्धा में जीवित हैं। वर्तमान ही नहीं भविष्य की पीढ़ियाँ भी जब धर्म एवं अध्यात्म के मर्म को जानने का यत्न करेंगी, तब इन दोनों संत महापुरुषों की रहनी-करनी और बोली-बानी उनका मार्गदर्शन करेगी।

प्रेरक-आधार ग्रंथ

१. 'लक्ष्य अब दूर नहीं!' श्री रामसुखदासजी महाराज का प्रवचन संग्रह, संकलनकर्ता-राजेन्द्र कुमार धवन, गीता प्रकाशन, गोरखपुर।

२. श्री रमणमहर्षि-सम्पादक -प्रो. लक्ष्मीनारायणलाल, अनुवाद डॉ. छाया तिवारी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली।

३. श्री रमणमहर्षि-आर्थर आसबोर्न, अनुवाद देवराज वेदालंकार, शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा।

४. श्री रामकृष्ण-स्वामी अपूर्वानन्द। रामकृष्ण मठ, नागपुर।

५. श्री रामकृष्णदेव-जैसा हमने उन्हें देखा, स्वामी चेतनानंद, अनुवाद रामकुमार गौड़, रामकृष्ण मठ, नागपुर।

६. विवेकानंद साहित्य-सप्तम खंड, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता।